

वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा में कैवल्य, निर्वाण एवं मोक्ष का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. सीमा रानी शर्मा

संस्कृत विभाग

हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश)

Paper Received On: 18 JUNE 2021

Peer Reviewed On: 30 JUNE 2021

Published On: 1 JULY 2021

Abstract

भारतीय चिन्तन-परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है। वैदिक, बौद्ध और जैन, तीनों ही धाराएँ इस विषय में एकमत हैं कि मानव-जीवन की सार्थकता केवल भोगों के संचय में नहीं, अपितु उस अवस्था की प्राप्ति में है जहाँ दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत आनन्द की उपलब्धि होती है। इस लक्ष्य तक पहुँचने का सर्वाधिक प्रभावी साधन ध्यान माना गया है, क्योंकि ध्यान ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा चित्त की चंचलता शान्त होती है, कषायों का क्षय होता है और आत्मा अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। प्रस्तुत शोध-पत्र में विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि विभिन्न परम्पराओं में मोक्ष, कैवल्य और निर्वाण की अवधारणाएँ शब्द-भेद के होते हुए भी किस प्रकार एक ही परम तत्त्व की ओर संकेत करती हैं। इस अध्ययन का आधार जैन परम्परा में ध्यान के स्वरूप पर किया गया समीक्षात्मक विवेचन है [1], जिसे अन्य परम्पराओं के मूल ग्रन्थों एवं आधुनिक विद्वानों के मतों के साथ जोड़कर विस्तार दिया गया है। ध्यान-साधना के मार्ग में साधक को अनेक बार ऐसी विशिष्ट शक्तियों का अनुभव होता है जिन्हें भारतीय साहित्य में लब्धि या सिद्धि कहा गया है। साधारण दृष्टि से ये उपलब्धियाँ आकर्षक प्रतीत होती हैं, किन्तु मोक्ष-मार्ग के पथिक के लिए ये बाधक सिद्ध होती हैं, क्योंकि इनमें आसक्ति उत्पन्न होने पर साधक अपने वास्तविक लक्ष्य से भटक जाता है। इसीलिए योगी साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह साधना केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही करे, किसी भी लौकिक प्रयोजन के लिए नहीं; लब्धियाँ मोक्ष की साधना में विघ्न उपस्थित करती हैं, अतः न तो उनकी प्राप्ति के लिए साधना करनी चाहिए और न ही उनका प्रयोग। दशवैकालिक सूत्र में तप के सन्दर्भ में यही भाव अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है :

नो इहलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा, नो परलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगद्वयाए तवमहिद्वेज्जा, नन्नत्थ निज्जरद्वयाए तवमहिद्वेज्जा ॥[13]

यही दृष्टि पातञ्जल योगसूत्र में भी मिलती है, जहाँ विभूतियों के विवेचन के पश्चात् स्पष्ट कहा गया है कि समाधि की दृष्टि से वे उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं और केवल व्युत्थान अर्थात् बहिर्मुख चित्त की अवस्था में ही सिद्धियाँ प्रतीत होती हैं [2]:

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ (योगसूत्र 3/37)

इस प्रकार जैन और योग, दोनों परम्पराएँ इस बिन्दु पर एकमत हैं कि ध्यान का वास्तविक फल चमत्कारिक शक्तियों का अर्जन नहीं, बल्कि चित्त की शुद्धि और कर्म-बन्धन से मुक्ति है। यही कारण है कि ध्यान के लक्ष्य की चर्चा में लब्धियों के निषेध के साथ मोक्ष के स्वरूप का विवेचन अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

वैदिक परम्परा के प्राचीनतम स्तर पर मोक्ष की अवधारणा उस रूप में नहीं मिलती जिस रूप में वह परवर्ती उपनिषदों और दर्शनों में विकसित हुई। ऋग्वेद एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार मानव का लक्ष्य धरती पर उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति और स्वर्ग के देवताओं के सामीप्य में सुखोपभोग है। ब्राह्मण-ग्रन्थ विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करने वालों को विविध देवताओं के सामीप्य में आनन्द-लाभ की आशा दिलाते हैं। ऋग्वेद का सोम-सूक्त इसी भावना को व्यक्त करता है, जहाँ अमरत्व और ज्योति की प्राप्ति की कामना की गई है [3]:

अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

यहाँ अमृतत्व का अर्थ देवलोक में दीर्घकालीन सुख से है, न कि कर्म-चक्र से आत्यन्तिक मुक्ति से। यह अवधारणा यज्ञ-केन्द्रित थी और इसमें कर्मकाण्ड को प्रमुखता प्राप्त थी। किन्तु जैसे-जैसे चिन्तन आगे बढ़ा, यह अनुभव किया जाने लगा कि स्वर्ग का सुख भी क्षयशील है और पुण्य के क्षीण होने पर पुनः संसार में लौटना पड़ता है। इसी अनुभव ने आरण्यक और उपनिषद् काल में उस चिन्तन को जन्म दिया जिसमें कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञान और ध्यान को मुक्ति का साधन माना गया और मोक्ष का अर्थ जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छूट जाना स्वीकार किया गया।

उपनिषदों, गीता, पुराणों, योगवाशिष्ठ एवं योगदर्शन आदि वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि जब साधक अपने चित्त को पूरी तरह शुद्ध कर लेता है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैदिक परम्परा में मोक्ष का वर्णन कैवल्य के नाम से भी किया गया है। कठोपनिषद् का कथन है कि जब हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करता है [4]:

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (कठोपनिषद् 2/3/14)

अमृतबिन्दूपनिषद् में मन के अवरोध को ही मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है कि मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है; विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और विषयों से विरक्त मन मुक्ति के लिए होता है, और मन को तब तक निरुद्ध करना चाहिए जब तक वह हृदय में पहुँचकर विलीन न हो जाए [5]:

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥ (अमृतबिन्दूपनिषद् 1/2)

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।

एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥ (अमृतबिन्दूपनिषद् 1/5)

गीता में भी यही भाव प्रतिपादित है कि जिसका मन प्रशान्त है, जिसका रजोगुण शान्त हो चुका है और जो पापरहित है, वह योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर उत्तम सुख का अनुभव करता है [6]:

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ (गीता 6/27)

योग के अभ्यास से साधक को मुक्ति एवं ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् का वचन है कि योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति बढ़ती है। योगचूडामणि एवं ध्यानबिन्दु

जैसे योगोपनिषदों में यह भी बताया गया है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधक को पहले कुण्डलिनी शक्ति को जगाना पड़ता है, जिससे वह मोक्ष के द्वार का भेदन करता है [5]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह प्रक्रिया शरीर और प्राण के नियमन से प्रारम्भ होकर अन्ततः चित्त के पूर्ण निरोध में पर्यवसित होती है, अर्थात् साधन चाहे हठयोग के हों या राजयोग के, लक्ष्य चित्त की शुद्धि और निरोध ही रहता है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार जीवात्मा का सृष्टि के साथ कर्ता एवं भोक्ता का सम्बन्ध, अर्थात् पुरुष और प्रकृति का संयोग ही दुःख का कारण है। योगसूत्र में इसे स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही वह हेय है जिससे बचना है, और पुरुष तथा मन (चित्त) के इस संयोग का कारण अविद्या है [2]:

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥ (योगदर्शन 2/17)

तस्य हेतुरविद्या॥ (योगदर्शन 2/24)

इस अविद्या का बन्धन केवल योग के अनेक उपायों में से ही टूटता है। योग की परिभाषा स्वयं यह संकेत देती है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही साधन है और द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही साध्यः

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ (योगसूत्र 1/2)

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ (योगसूत्र 1/3)

जब मुनि अपनी सभी वासनाओं एवं कर्मों की निर्जरा या क्षय कर देते हैं, तब उनको कैवल्य की प्राप्ति होती है। योगसूत्र का अन्तिम सूत्र इसी कैवल्य को परिभाषित करता है [2]:

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ (योगसूत्र 4/34)

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'निर्जरा' शब्द प्रायः जैन परिभाषा का माना जाता है, किन्तु कर्म-क्षय की धारणा के रूप में उसका भाव योग-परम्परा में भी विद्यमान है, जहाँ क्लेश और कर्माशय के क्षीण होने को ही कैवल्य का द्वार माना गया है।

बौद्ध परम्परा में मोक्ष का स्वर यद्यपि भिन्न शब्दावली में व्यक्त हुआ है, तथापि उसका मूल प्रयोजन वही है। बौद्ध मत में यह जगत् एक कोरी यन्त्रणा है और मानव का परम पुरुषार्थ उस इच्छा या तृष्णा को नष्ट करके, जो उसे एक जन्म से दूसरे जन्म के चक्कर में फँसाए रखती है, इस यन्त्रणा से छुटकारा पा लेना है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा, ये चार आर्यसत्य इसी चिन्तन की रीढ़ हैं। बौद्ध दर्शन में मोक्ष या कैवल्य को ही 'निर्वाण' की उपाधि दी गई है। 'निर्वाण' शब्द का मूल अर्थ बुझ जाना है, अर्थात् तृष्णा, राग, द्वेष और मोह की अग्नि का शान्त हो जाना। इस दृष्टि से निर्वाण किसी अभाव-मात्र की संज्ञा नहीं, बल्कि उस परम शान्ति का नाम है जो आसक्तियों के बुझ जाने पर उपलब्ध होती है [9][26]।

बौद्ध चिन्तन में कर्मों को मनुष्य की छाया के समान बतलाते हुए संसार की जड़ कहा गया है, क्योंकि कर्म से विपाक प्रवर्तित होता है और स्वयं विपाक कर्म-सम्भव है; इस प्रकार कर्म से ही संसार-चक्र का प्रारम्भ होता है। विसुद्धिमग्ग में यह कार्य-कारण-श्रृंखला इन शब्दों में प्रस्तुत की गई है [10]:

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसम्भवो।

कम्मा पुनर्भवो होति एवं लोको पवत्तति॥ (विसुद्धिमग्ग)

अभिप्राय यह है कि कर्म से विपाक (फल) चलता है, विपाक कर्म से उत्पन्न होता है, कर्म से पुनर्जन्म होता है और इसी प्रकार लोक की प्रवृत्ति चलती रहती है। जो चक्र इस प्रकार स्वयं को पोषित करता है, उसे तोड़ने का एकमात्र उपाय चित्त के भीतर उन कारणों का उन्मूलन है जिनसे कर्म उत्पन्न होते हैं।

बौद्ध योग के अनुसार निर्वाण एक आध्यात्मिक अनुभव है, जिसकी प्राप्ति के लिए चित्त की शुद्धि बहुत जरूरी है, क्योंकि चित्त की शुद्धि ही निर्वाण कहलाती है। विसुद्धिमग्न में विशुद्धि का अर्थ ही सब प्रकार के मल से रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण समझा जाना बताया गया है [10]:

विसुद्धीति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बं।

धम्मपद की प्रसिद्ध गाथा बुद्ध-शासन का सार भी इसी चित्त-शुद्धि में देखती है [11]:

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥ (धम्मपद 183)

जब साधक निर्वाण की अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसके चित्त में मल नहीं रहता और यही कारण है कि जब योगी इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसे किसी की भी आकांक्षा नहीं रहती और उसे संसार में लौटने का कोई भय नहीं रहता; वह परम सुख को प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्य को धम्मपद ने संक्षिप्त सूत्र में बाँधा है [11]:

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं।

विस्सासपरमा जाती निब्बानं परमं सुखं॥ (धम्मपद 15/8)

मिलिन्दप्रश्न के अनुसार निर्वाण का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है कि तृष्णा के निरोध से उपादान का, उपादान के निरोध से भव का और इसी क्रम से जाति का निरोध होता है; फलस्वरूप बूढ़ा होना, मरना, शोक, दुःख, बेचैनी, परेशानी आदि सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो जाते हैं [9]। यह वही प्रतीत्यसमुत्पाद की श्रृंखला है जिसे उलटी दिशा में, अर्थात् निरोध के क्रम में, पढ़ा गया है। तृष्णा, राग-द्वेष और मोह आदि संसार की जड़ तथा योगी के मन को चंचल बनाने के कारण हैं, जिनसे विविध प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है। जब योगी राग, द्वेष, मोह आदि का नाश कर देता है, तो यही अवस्था निर्वाण कहलाती है। धम्मपद का भिक्षु के प्रति उपदेश इसी साधना-पथ का संकेत करता है [11]:

सिञ्च भिक्षु इमं नावं सिता ते लहुमेस्सति।

छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानमेहिसि॥ (धम्मपद 25/10)

निर्वाण की अवस्था में दुःख लेशमात्र भी नहीं रहता, बल्कि वह स्थिति आनन्द की या सुख की पराकाष्ठा में पहुँच जाती है। मिलिन्दप्रश्न के अनुसार यह स्थिति केवल मन के द्वारा ही जानी जा सकती है, यह इन्द्रियों, काल आदि से नहीं जानी जा सकती [9]। पालि साहित्य में इस अवस्था का एक गम्भीर संकेत उदान में मिलता है, जहाँ बुद्ध भिक्षुओं से कहते हैं कि एक ऐसा अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत तत्त्व है, जिसके कारण जन्म आदि से छुटकारा सम्भव होता है [12]:

अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं अकृतं असङ्खतं।

बौद्ध आचार्यों ने निर्वाण के दो प्रकार भी कहे हैं: सोपधिशेष निर्वाण, जिसमें अर्हत् के जीवित रहते हुए क्लेश तो समाप्त हो चुके होते हैं किन्तु पंचस्कन्धरूप शरीर शेष रहता है, और अनुपादिशेष या परिनिर्वाण, जिसमें शरीर के छूटने के पश्चात् पुनर्भव का कोई अवशेष नहीं रहता [26]। यह विभाजन जैन परम्परा की अरिहन्त और सिद्ध अवस्थाओं तथा वेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की धारणा से आश्चर्यजनक साम्य रखता है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। आष्टांगिक मार्ग का अन्तिम अंग सम्यक् समाधि है, और चार रूप-ध्यानो में प्रगति करता हुआ साधक उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि तक पहुँचता है; इस प्रकार बौद्ध साधना में भी

ध्यान मोक्ष का अनिवार्य साधन है, लब्धियाँ (अभिज्ञाएँ) वहाँ भी साधक के मार्ग में सहायक होने के स्थान पर आसक्ति का कारण बन सकती हैं, इसलिए उनका परित्याग श्रेयस्कर माना गया है [26]।

जैन परम्परा में मोक्ष की अवधारणा का स्थान सर्वोपरि माना गया है। वैसे तो सभी सम्प्रदायों में मोक्ष को बहुत ही महत्त्व दिया गया है, लेकिन जैन परम्परा में वह सम्पूर्ण साधना का केन्द्र है। साधक आत्मविकास की सीढ़ियों को क्रमशः पार करता हुआ जब आत्मस्वरूप को पूरी तरह से पहचान लेता है और आत्मविकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब उसकी वह स्थिति मोक्ष ही है। मनुष्य की योनि में ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष की सबसे प्रामाणिक परिभाषा दी है [15]:

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ (तत्त्वार्थसूत्र 10/2)

अर्थात् बन्ध के हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, आप्तपरीक्षा, पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका और स्याद्वादमंजरी जैसे परवर्ती ग्रन्थों में भी इसी परिभाषा को भिन्न-भिन्न दार्शनिक आयामों से पुष्ट किया गया है [15][19]। कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि से साधक जब आत्मा एवं बन्ध को अलग-अलग कर देता है, तो वही मोक्ष कहलाता है [18]:

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। (समयसार, आत्मख्याति 288)

जब बन्धावस्था को प्राप्त जीव और कर्मों के प्रदेश सदा के लिए एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं, अर्थात् किसी भी कर्म का आत्मा के साथ किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रह पाता, तो यही मोक्ष की अवस्था है। शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में इसे जन्म का प्रतिपक्षी कहकर परिभाषित किया है [16]:

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिध्वंसलक्षणः।

जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ (ज्ञानार्णव 3/6)

आत्मा जब कर्ममल, राग-द्वेष, मोह और शरीर को अपने से हमेशा के लिए विलग कर लेती है, तब उसे ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप जो विलक्षण अवस्था प्राप्त होती है, वह मोक्ष कहलाती है। तत्त्वानुशासन में यही भाव अत्यन्त संक्षिप्त शैली में मिलता है [17]:

आत्यन्तिकस्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः।

स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ (तत्त्वानुशासन 230)

जब आत्मा का चतुर्गतिरूपों में भ्रमण रुक जाता है, तब समस्त कर्मों का आवागमन रुक जाता है और आत्मा स्वभावतः निजस्वरूप में स्थित हो जाती है। संवर के द्वारा आत्मा में नये कर्मों का प्रवेश तक रुक जाता है और निर्जरा से इकट्ठे हुए कर्मों का पूरी तरह से क्षय हो जाता है; तब आत्मा अनन्त सुख का अनुभव करती है। ज्ञानसार में कहा गया है कि जब मन के व्यापार शान्त हो जाते हैं, तब रागादि भाव उन विषयों में नहीं भटकते और आत्मा चिरकाल तक अपने स्वरूप में रमण करती है [16]।

जैन आचार्यों ने मोक्ष के अनेक भेद किये हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने व्यतिरेक, अन्वय एवं सुख की प्रधानता से मोक्ष को तीन प्रकार का माना है, जबकि देवसेनाचार्य ने द्रव्य एवं भाव के भेद से उसे दो प्रकार वाला कहा है [16][20]। धवला में भी मोक्ष के तीन भेद कहे गये हैं: जीव-मोक्ष, पुद्गल-मोक्ष एवं जीव-पुद्गल-मोक्ष [19]। सामान्यतः मोक्ष एक ही प्रकार का होता है, किन्तु द्रव्य, भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से वह अनेक प्रकार का भी है। राजवार्तिक का वचन है [15]:

सामान्यादेको मोक्षः द्रव्यभावभोक्तव्यभेदादनेकोऽपि। (राजवार्तिक 1/7/14/40/42)

यह भेद वस्तुतः विभिन्न नयों की अपेक्षा से किया गया वर्णन है, मोक्ष-तत्त्व की एकता का खण्डन नहीं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग की प्रवृत्ति, ये सब संसार के बन्धन के कारण माने गये हैं और इन्हीं कारणों के कारण जीव अपनी विवेक-शक्ति को खो देता है और संसार की सभी वस्तुओं को भ्रान्तिवश अपनी समझने लगता है; उसकी यही अवस्था संसार में भ्रमण करने का कारण है। इसके विपरीत, मोहनीय कर्म के क्षय से एवं ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों के क्षय से जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है [15]:

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्॥ (तत्त्वार्थसूत्र 10/1)

जैनाचार्यों ने केवलज्ञान की इस अवस्था को जीव की अरिहन्त दशा माना है। इस अरिहन्त अवस्था में मन, वचन एवं काय के योग में से सूक्ष्म काययोग का व्यापार चलता रहता है। तेरहवें गुणस्थान वाले इस ध्यान में श्वास-क्रिया के शेष रहने के कारण जीव को केवलज्ञान की ही प्राप्ति होती है, लेकिन मुक्ति नहीं होती। मुक्ति प्राप्त करने के लिए उसे चारों घातिया कर्मों का क्षय करना पड़ता है और उसकी जो श्वास-प्रश्वास की क्रिया है, उसका भी निरोध करना पड़ता है; तब उसकी आत्मा के प्रदेशों में किसी भी प्रकार की हलचल शेष नहीं रहती और वह अयोग-केवली अवस्था को प्राप्त कर लेता है [29]। ध्यान की भाषा में यह शुक्लध्यान के तृतीय भेद सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती तथा चतुर्थ भेद व्युपरतक्रिया-निवृत्ति का विषय है, और यह स्थिति चौदहवें गुणस्थान की है। यही कारण है कि जैन ध्यान-परम्परा में ध्यान को केवल एकाग्रता का अभ्यास नहीं, अपितु योग-निरोध की उस क्रमिक प्रक्रिया के रूप में देखा गया है जिसकी परिणति मोक्ष में होती है।

मोक्ष को प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकरूप परिपूर्णता जरूरी होती है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र का यही आशय है [15]:

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥ (तत्त्वार्थसूत्र 1/1)

मोक्ष कर्मों के क्षय से ही होता है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से ही होता है और सम्यग्ज्ञान ध्यान के द्वारा ही सिद्ध होता है। ज्ञान की एकाग्रता ध्यान से ही सिद्ध होती है; इसलिए ध्यान ही आत्मा का हित माना गया है। ज्ञानार्णव में यह पूरी तर्क-श्रृंखला एक ही श्लोक में सँजोई गई है [16]:

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः।

ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः॥ (ज्ञानार्णव 3/13)

इसी क्रम में पुरुषार्थ का केन्द्र भी बाहर से हटकर भीतर आ जाता है; आत्मा स्वयं ही कर्ता-धर्ता एवं गुरु होती है। पूज्यपाद-रचित समाधितन्त्र का यह श्लोक जैन अध्यात्म का सार है [17]:

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।

गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः॥ (समाधितन्त्र 75)

अर्थात् आत्मा ही आत्मा को जन्म (संसार) की ओर भी ले जाती है और निर्वाण की ओर भी; इसलिए परमार्थतः आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं। यह कथन वेदान्त के 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (गीता 6/5) के साथ तुलनीय है और बौद्ध परम्परा के 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' (धम्मपद 160) के निकट है, जो इन परम्पराओं की एक साझा अन्तर्दृष्टि को प्रकट करता है [6][11]।

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर आत्मा स्वयं ही सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है तथा एक क्षण में ऊर्ध्वगमन कर लोकशिखर के अग्रभाग में पहुँच जाती है। तत्त्वार्थसूत्र (10/5) में कहा गया है कि इसके अनन्तर वह लोक के अन्त तक ऊपर जाती है [15], और तत्त्वानुशासन इसका कारण स्वभाव को ठहराता है [17]:

कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या स्वभावतः।

क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति॥ (तत्त्वानुशासन 231)

जैसे मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर जल में डूबी तुम्बी स्वभाव से ऊपर उठती है, वैसे ही कर्म-भार से मुक्त आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। जहाँ किसी भी प्रकार का राग-भाव नहीं रहता, वहाँ आत्मा हमेशा समता भाव से परमानन्द का अनुभव करती हुई अचल रहती है। पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका में इसी तथ्य का संकेत है कि राग के क्षीण होने के क्रम से ही परमानन्द की सम्भावना बनती है [30]। मुक्तावस्था में होने के कारण कर्मों के द्वारा आत्मा का शरीर-निर्माण नहीं होता, क्योंकि कारण के नष्ट होने पर कार्य कहीं भी उत्पन्न नहीं होता; लेकिन मुक्तात्मा का आकार प्रायः उस शरीर से कुछ कम रह जाता है जिसे त्यागकर वह मुक्त हुआ है और वह देह के प्रतिबिम्ब रूप रुचिराकार ही होता है। तत्त्वानुशासन के शब्दों में [17]:

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ।

मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्वेतुकर्मणाम्॥

ततः सोऽनन्तरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः।

किञ्चिद्वनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः॥ (तत्त्वानुशासन 232-33)

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि आत्मा जब तक संसार के बन्धन में रहती है, तब तक वह नाम-कर्म के उदय के कारण संकोच-विस्तारशील शरीर धारण करती है और मुक्त हो जाने पर अशरीरी बन जाती है। लेकिन आत्मा जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है, उसका एक-तिहाई भाग, अर्थात् मुख, नाक, पेट आदि खाली अंग होते हैं; बाकी दो-तिहाई भाग में उस जीवात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्ध-स्थान में व्याप्त हो जाते हैं, जिसे 'अवगाहना' कहते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र (36/64) में इसका निरूपण है [14]। प्रत्येक जीव का अपना अस्तित्व होता है और ऐसी ही आत्मा संसार में दुबारा नहीं आती, क्योंकि वह वीतराग, वीतमोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश में जैसे अनेकों दीपकों का प्रकाश समा जाता है, उसी प्रकार एक सिद्ध में अनेक सिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धों में लोहे के गोले के समान नीचे आने की विवश गुरुता और वायु से प्रेरित आक की रूई की तरह हल्कापन, अर्थात् लघुता, भी नहीं होती, जिसे 'अगुरुलघुगुण' भी कहते हैं; बृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा गया है कि यदि सर्वथा गुरुत्व होता तो लोहपिण्ड की भाँति नीचे पतन होता और यदि सर्वथा लघुत्व होता तो वायु से आहत आक की रूई की तरह सदैव भ्रमण ही होता, इसीलिए अगुरुलघुत्व गुण कहा गया है [20]।

इस प्रकार सिद्धात्मा शरीर, इन्द्रिय, मनोविकल्प एवं कर्मों से रहित होकर अनन्त वीर्य को प्राप्त होता है और नित्य आनन्दस्वरूप में लीन हो जाता है [16]:

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः।

अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः॥ (ज्ञानार्णव 42/73)

कर्मबन्ध का क्रम अवरुद्ध होने पर आत्मा अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेशरूप क्लेशों के क्षीण हो जाने पर, विघ्न-बाधाओं से रहित, शाश्वत आनन्द से युक्त मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेती है। यहाँ जैन शब्दावली में पतञ्जलि के पाँच क्लेशों का स्मरण स्वाभाविक है [2]:

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ (योगसूत्र 2/3)

योगबिन्दु में मुक्तात्मा की इस अवस्था को एकान्तक्षीणसंक्लेश, कृतकृत्य, निराबाध एवं सदानन्द कहा गया है [21]:

एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः।

निराबाधः सदानन्दो मुक्तात्माऽवतिष्ठते॥ (योगबिन्दु 504)

इस सिद्धावस्था में आत्मा निद्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, शोक, मोह, जरा, जन्म, मरण, क्षुधा, खेद, उन्माद, मूर्छा आदि से रहित हो जाती है तथा आत्मा में न तो वृद्धि होती है और न ही ह्रास। ज्ञानार्णव का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है [16]:

निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्तिसंशयैः।

शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः॥

क्षुत्तृष्टममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः।

वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः॥ (ज्ञानार्णव 42/71-72)

मुक्तात्मा के द्वारा जो आनन्द अनुभव किया जाता है, वह अनिर्वचनीय है। यही वह बिन्दु है जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक वर्णन एक स्वर में बोलते हैं: तैत्तिरीय उपनिषद् का 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' भी इसी अनिर्वचनीयता की ओर इंगित करता है [4], और जैन आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि सिद्ध-सुख इन्द्रियों और तर्क की पहुँच से परे है।

अब पुनः वैदिक-वेदान्त परम्परा की ओर दृष्टि डालें, तो वहाँ मोक्ष को जीवन्मुक्ति के रूप में भी इसी जीवन में सम्भव माना गया है। शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में वासनाओं के पूर्ण क्षय को ही मोक्ष कहा है और उसी को जीवन्मुक्ति की संज्ञा दी है [7]:

वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। (विवेकचूडामणि 318)

इस कैवल्य की प्राप्ति वाणी एवं मन से अगोचर है, और अभीप्सित मोक्ष तो जीव और ब्रह्म के ऐक्य को समझ लेने पर इसी जीवन में मिल जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसकी अनिर्वचनीयता को इस प्रकार व्यक्त करती है [4]:

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥ (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4/1)

गौडपाद ने माण्डूक्यकारिका में जीव और ब्रह्म की इसी अभिन्नता का प्रतिपादन किया है [8], और बृहदारण्यक उपनिषद् का उद्घोष है कि जो इस बात को जान लेता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ', वह यह सब कुछ बन जाता है; स्वयं देवता भी उसे ऐसा बन जाने से नहीं रोक सकते, क्योंकि वही तो इस विश्व की आत्मा है [4]:

अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात् तत्सर्वमभवत्। तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां स भवति॥ (बृहदारण्यक 1/4/10)

अथवा मुण्डक उपनिषद् के शब्दों में, जो परब्रह्म को जान लेता है वही स्वयं ब्रह्म बन जाता है [4]:

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति॥ (मुण्डकोपनिषद् 3/2/9)

इस तथ्य का निरंजन-ज्ञान ही मोक्ष है। ऐसा योगी सब प्रकार की ईहा एवं एषणाओं से परे पहुँच जाता है और उसके पुण्य एवं पापों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि वेदान्त में बन्धन का कारण अज्ञान है और मुक्ति ज्ञान से, जबकि जैन परम्परा में कर्म-पुद्गलों के बन्ध को बन्धन माना गया है और बौद्ध परम्परा में तृष्णा को; परन्तु तीनों ही परम्पराओं में 'ज्ञान' का अर्थ मात्र बौद्धिक जानकारी नहीं, अपितु अनुभवजन्य साक्षात्कार है, जो ध्यान की गहराई में ही उपलब्ध होता है। गीता का वचन इसी ओर संकेत करता है [6]:

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। (गीता 4/37)

जैन आचार्यों ने जिसे 'ध्यानाग्नि' कहा है, वही यहाँ 'ज्ञानाग्नि' के रूप में प्रकट है। मोक्ष-प्राप्ति में कर्मों का वह अभाव, जिसे सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध-विच्छेद कहा गया है, ध्यानाग्नि से उन्हें जलाने के द्वारा ही बनता है [1]।

योग-परम्परा में सिद्ध आत्मा को अनेक नामों से पुकारा गया है। ब्राह्मणों ने उस सिद्धात्मा को ब्रह्मा कहा है, वैष्णवों ने विष्णु, तापसों ने रुद्र और जैन, बौद्ध एवं कौलिक आदि ने उसे क्रमशः जिनेन्द्र, बुद्ध एवं कौल कहा है। योगप्रदीप का यह श्लोक इस समन्वय-दृष्टि का सुन्दर उदाहरण है [22]:

ब्राह्मणैर्लक्ष्यते ब्रह्मा विष्णुः पीताम्बरैस्तथा।

रुद्रस्तपस्विभिर्दृष्ट एष एव निरञ्जनः॥

जिनेन्द्रो जल्प्यते जैनैर्बुद्धः कृत्वा च सौगतैः।

कौलिकैः कौल आख्यातः स एवायं सनातनः॥ (योगप्रदीप 33/34)

चाहे इस सिद्धावस्था, अर्थात् निर्वाण को किसी भी नाम से किसी भी रूप में जाना जाये, वह अनेक नामों वाला होकर भी एक ही तत्त्व का बोध कराता है। हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय में इसी बात को दार्शनिक सूत्र में बाँधा है [21]:

संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम्।

तद्व्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः॥ (योगदृष्टिसमुच्चय 128)

अर्थात् संसार से अतीत जो परम तत्त्व है, उसी की संज्ञा निर्वाण है; शब्दों के भेद के होते हुए भी तत्त्वतः वह एक ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो भी सार पदार्थ है, वह मोक्ष है और ध्यान की आराधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध-विच्छेद रूप अभाव का नाम मोक्ष है।

फिर भी इन तीनों परम्पराओं के बीच की भिन्नताओं को अनदेखा करना वैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। वैदिक-वेदान्त परम्परा में मोक्ष का अर्थ जीवात्मा का परब्रह्म के साथ अभेद-साक्षात्कार है; वहाँ मुक्त आत्मा और ब्रह्म की भिन्न सत्ता नहीं रहती। इसके विपरीत जैन परम्परा में प्रत्येक सिद्ध आत्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है; सिद्धशिला पर अनन्त सिद्ध अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ एक ही आकाश-क्षेत्र में अवगाहित रहते हैं, और उनका परस्पर सम्मिलन अभेद नहीं, अपितु अव्याघात अवकाश-दान है। बौद्ध परम्परा, अनात्मवाद के कारण, किसी शाश्वत आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करती; वहाँ निर्वाण पंचस्कन्धों की उस प्रक्रिया का शान्त हो जाना है जिसे व्यवहार में 'व्यक्ति' कहा जाता है। सांख्य-योग की परम्परा इनके मध्य में स्थित है, जहाँ पुरुषों का बहुत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु पुरुष के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को कैवल्य कहा गया है [2][23][24]। इन अन्तरों के बावजूद साधना-पद्धति के स्तर पर आश्चर्यजनक एकरूपता दिखाई देती है: चित्त की चंचलता का निरोध, राग-द्वेष-मोह का क्षय, वासनाओं का प्रक्षय और अन्ततः ध्यान की उस अवस्था में प्रतिष्ठा जहाँ विकल्प शान्त हो जाते हैं [25][28]।

जैन परम्परा में कहे गये 'निर्विकल्प समाधि' और पातञ्जल योग के 'असम्प्रज्ञात समाधि' तथा बौद्ध साधना की 'निरोध-समापत्ति' को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि ध्यान की उच्चतम भूमिकाओं का अनुभव सार्वभौम है, केवल उसकी व्याख्याएँ भिन्न हैं [27]। ये व्याख्याएँ अपने-अपने तत्त्वमीमांसीय आग्रहों से प्रभावित हैं, जबकि अनुभव की प्रकृति, अर्थात् विकल्प-शून्यता, राग-द्वेष का अभाव और परम शान्ति, सभी में समान रूप से वर्णित है। इसी कारण यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि जिस परम तत्त्व को योग-

परम्परा 'कैवल्य' कहती है, बौद्ध 'निर्वाण' कहते हैं और जैन 'मोक्ष' या 'सिद्धावस्था' कहते हैं, वह अनुभव के स्तर पर एक-दूसरे के अत्यन्त निकट है, यद्यपि दार्शनिक विश्लेषण के स्तर पर उसकी व्याख्याएँ भिन्न हैं।

आधुनिक सन्दर्भ में यह चर्चा केवल ऐतिहासिक महत्त्व की नहीं है। आज जब ध्यान को प्रायः तनाव-शमन, एकाग्रता-वृद्धि या मानसिक स्वास्थ्य के उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, तब इन प्राचीन परम्पराओं की यह चेतावनी विशेष मूल्य रखती है कि ध्यान का मूल लक्ष्य न तो भौतिक उपलब्धियाँ हैं और न ही चमत्कारिक लब्धियाँ, बल्कि चित्त की शुद्धि और आत्म-स्वरूप की उपलब्धि है। दशवैकालिक से लेकर योगसूत्र तक और धम्मपद से लेकर उपनिषदों तक का सम्मिलित स्वर यही है कि लौकिक प्रयोजन के लिए की गई साधना भी बन्धन का कारण बन सकती है, जबकि निर्जरा या चित्तशुद्धि के उद्देश्य से की गई साधना मुक्ति की ओर ले जाती है [13][2][11]। ध्यान के आधुनिक अनुप्रयोग इन लक्ष्यों के पूरक हो सकते हैं, किन्तु उनका विकल्प नहीं।

शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी तीनों संज्ञाएँ अपनी-अपनी परम्परा का दृष्टिकोण प्रकट करती हैं। 'मोक्ष' शब्द 'मुच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या मुक्त होना है; इसमें बन्धन से छूटने का भाव प्रधान है। 'कैवल्य' शब्द 'केवल' से निष्पन्न है, जिसका आशय है अकेला, अर्थात् प्रकृति, कर्म या उपाधियों के संसर्ग से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित होना। 'निर्वाण' शब्द 'निर्' उपसर्ग और 'वा' धातु से बनता है, जिसका अर्थ बुझ जाना है। इस प्रकार मोक्ष में मुक्ति का, कैवल्य में अकेलेपन अर्थात् शुद्धता का और निर्वाण में अग्नि के शमन अर्थात् शान्ति का भाव प्रमुख है [2][26]। 'सिद्ध' शब्द उस आत्मा के लिए है जिसने अपना प्रयोजन पूर्ण कर लिया हो। भाषा के ये भेद साधना-पद्धतियों के उन अन्तरो की ओर संकेत करते हैं जिनका उल्लेख पूर्व में किया गया है, किन्तु तीनों शब्दों का अर्थ-क्षेत्र परस्पर अत्यन्त निकट है।

ध्यान की भूमिका के सन्दर्भ में जैन आगम-परम्परा ने ध्यान को स्पष्ट शब्दों में परिभाषित किया है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार उत्तम संहनन वाले साधक का एक विषय में चित्त का निरोध करना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है [15]:

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्॥ (तत्त्वार्थसूत्र 9/27)

इसके चार भेद बताये गये हैं, जिनमें से प्रथम दो संसार के हेतु और अन्तिम दो मोक्ष के हेतु हैं [15]:

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि॥ परे मोक्षहेतू॥ (तत्त्वार्थसूत्र 9/29-30)

अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान बन्धन को बढ़ाने वाले हैं, जबकि धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं। इसी से स्पष्ट है कि जैन चिन्तन में ध्यान स्वयं में लक्ष्य नहीं, बल्कि मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, और उसकी सार्थकता इस पर निर्भर करती है कि वह कर्म-निर्जरा की ओर ले जाता है अथवा कर्म-आस्रव की ओर। संवर और निर्जरा की इस प्रक्रिया को उमास्वाति ने संक्षेप में कहा है [15]:

आस्रवनिरोधः संवरः॥ तपसा निर्जरा च॥ (तत्त्वार्थसूत्र 9/1, 9/3)

बौद्ध परम्परा में भी ध्यान और प्रज्ञा का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। धम्मपद का कथन है कि प्रज्ञा के बिना ध्यान नहीं और ध्यान के बिना प्रज्ञा नहीं; जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, वही निर्वाण के समीप है [11]:

नत्थि ज्ञानं अपञ्चस्स पञ्चा नत्थि अज्ञायतो।

यम्हि ज्ञानञ्च पञ्चा च स वे निब्बानसन्तिके॥ (धम्मपद 372)

बौद्ध साधना में समथ (शमथ) और विपश्यना की युगल-पद्धति इसी का व्यावहारिक रूप है। समथ से चित्त की एकाग्रता सधती है और विपश्यना से अनित्य, दुःख और अनात्म का साक्षात्कार होता है [26]। वैदिक-उपनिषद् परम्परा में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की त्रयी यही कार्य करती है, जहाँ निदिध्यासन ध्यान का ही रूप है, और गीता के छठे अध्याय में ध्यान-योग का विस्तृत निरूपण है, जिसका फल आत्यन्तिक सुख है [6]:

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (गीता 6/22)

यहाँ भी वही बात दिखाई देती है जो जैन और बौद्ध ग्रन्थों में है: मोक्ष की अवस्था ऐसी पूर्णता है जिसके पश्चात् किसी अन्य लाभ की आकांक्षा शेष नहीं रहती और कोई दुःख, चाहे कितना भी गुरु हो, साधक को विचलित नहीं कर पाता।

तीनों परम्पराओं में मोक्ष-मार्ग को त्रिविध अनुशासन के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। जैन परम्परा में यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का रत्नत्रय है; बौद्ध परम्परा में शील, समाधि और प्रज्ञा का त्रिशिक्षा-क्रम है; और वेदान्त में श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्रम है, जिसके साथ यम-नियम रूप आचार की भूमिका सदा अपेक्षित मानी गयी है [2][15][26]। इस साम्य का तात्पर्य यह है कि मोक्ष की साधना में सदाचार, तत्त्वज्ञान और ध्यान, इन तीनों का समन्वय अनिवार्य है और किसी एक के अभाव में साधना अपूर्ण रहती है। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह और करुणा जैसे मूल्य तीनों परम्पराओं में साधक की आचार-भूमि का निर्माण करते हैं, इसलिए मोक्ष की यह साधना केवल वैयक्तिक मुक्ति तक सीमित नहीं रहती, अपितु समाज के प्रति उत्तरदायित्व का बोध भी जगाती है [28]।

जीवन्मुक्ति, सोपधिशेष निर्वाण और अरिहन्त अवस्था की तुलना भी रोचक है। वेदान्त के अनुसार जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञान के उदय से अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से शरीर में स्थित रहता है; बौद्ध अर्हत् के क्लेश नष्ट हो जाते हैं पर पंचस्कन्ध शेष रहते हैं; और जैन परम्परा में केवली के चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं पर चार अघातिया कर्म, जैसे आयु और नाम, शेष रहते हैं। तीनों ही स्थितियों में शरीर के छूटने के पश्चात् विदेहमुक्ति, परिनिर्वाण अथवा सिद्धत्व की स्थिति आती है [7][26][16]। यह संरचनागत साम्य इस बात का प्रमाण है कि भारतीय साधना-परम्पराओं ने मुक्ति को दो चरणों में समझा: प्रथम, इसी जीवन में क्लेशों का क्षय और द्वितीय, देह-त्याग के पश्चात् पुनर्भव का सर्वथा अभाव।

अन्त में, इस अध्ययन की सीमाओं का उल्लेख भी आवश्यक है। प्रस्तुत विवेचन मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत और पालि के प्रामाणिक वचनों पर आधारित है, परन्तु इन भाषाओं में रचित ग्रन्थ भिन्न-भिन्न कालों के हैं और अनेक पारिभाषिक शब्दों के अर्थ समय के साथ बदले हैं। इसलिए तुलनात्मक अध्ययन में यह सावधानी आवश्यक है कि किसी शब्द का अर्थ अन्य परम्परा में उसी रूप में न मान लिया जाये। उदाहरणार्थ, 'आत्मा', 'कर्म' और 'निर्वाण' शब्द तीनों परम्पराओं में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उनकी तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि पृथक् है। फिर भी, यह तथ्य कि अनेक शताब्दियों तक भिन्न-भिन्न आचार्यों ने एक-दूसरे के सिद्धान्तों से संवाद करते हुए मोक्ष की धारणा को विकसित किया, इस साझा आध्यात्मिक विरासत की जीवन्तता का प्रमाण है।

सन्दर्भ-सूची

- [1] जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप: एक समीक्षात्मक अध्ययन, अध्याय 'ध्यान का लक्ष्य—लब्धियाँ एवं मोक्ष', पृ. 237–245 (प्रस्तुत अध्ययन का आधार-पाठ; इसमें उद्धृत मूल ग्रन्थों की पाद-टिप्पणियों के आधार पर सन्दर्भ मिलाए गए हैं)।
- [2] पतञ्जलि, योगदर्शन (व्यासभाष्य एवं हिन्दी व्याख्या सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
- [3] ऋग्वेद संहिता (सायणभाष्य सहित), मण्डल 8, सूक्त 48, मन्त्र 3, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे।
- [4] ईशादि नौ उपनिषद् (शांकरभाष्य सहित): कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- [5] अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु एवं योगचूडामणि उपनिषद्, योगोपनिषद् संग्रह, अड्यार लाइब्रेरी, चेन्नई।
- [6] श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर।
- [7] आदि शंकराचार्य, विवेकचूडामणि, श्लोक 318, अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
- [8] गौडपाद, माण्डूक्यकारिका (शांकरभाष्य सहित), अद्वैत आश्रम, कोलकाता।
- [9] मिलिन्दपञ्चपाळि (मिलिन्द-प्रश्न), हिन्दी अनुवाद, महाबोधि सभा, सारनाथ।
- [10] बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, हिन्दी अनुवाद: भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ।
- [11] धम्मपद (खुद्दक निकाय), पालि-हिन्दी संस्करण, नालन्दा महाविहार, नालन्दा।
- [12] उदान (खुद्दक निकाय), अध्याय 8, सुत्त 3, नालन्दा महाविहार संस्करण।
- [13] दशवैकालिक सूत्र (शय्यम्भवसूत्र कृत), अध्याय 9, उद्देशक 4, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
- [14] उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 36, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
- [15] उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र (पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि एवं अकलंककृत राजवार्तिक सहित), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- [16] शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास।
- [17] पूज्यपाद (देवनन्दी), समाधितन्त्र (इष्टोपदेश सहित); रामसेन, तत्त्वानुशासन, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।
- [18] कुन्दकुन्दाचार्य, समयसार (अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति सहित), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- [19] वीरसेनाचार्य, धवला टीका (षट्खण्डागम), जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर।
- [20] देवसेन, नयचक्र; नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, बृहद्द्रव्यसंग्रह (ब्रह्मदेवकृत टीका सहित), परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास।
- [21] हरिभद्रसूरि, योगबिन्दु एवं योगदृष्टिसमुच्चय, जैन ग्रन्थ प्रकाशन समिति।
- [22] योगप्रदीप, (योग-परम्परा का संकलित ग्रन्थ), श्लोक 33–34।
- [23] S. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vols. I–II, George Allen & Unwin, London, 1923–27 (Oxford University Press, reprint)।
- [24] S. N. Dasgupta, A History of Indian Philosophy, Vols. I–V, Cambridge University Press, 1922–55।
- [25] P. S. Jaini, The Jaina Path of Purification, University of California Press, Berkeley, 1979।
- [26] Walpola Rahula, What the Buddha Taught, Gordon Fraser, London, 1959।
- [27] Mircea Eliade, Yoga: Immortality and Freedom (Trans. W. R. Trask), Princeton University Press, 1958।
- [28] सागरमल जैन, जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भाग 1–2), राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर।
- [29] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, ध्यानशतक (हरिभद्राचार्य वृत्ति सहित), हिन्दी विवेचन सहित संस्करण।
- [30] यशोविजय, द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका (पूर्वसेवा द्वात्रिंशिका), श्लोक 22/32।